तत-सम

राजी सेठ

तत-सम

राजी सेठ

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: फरवरी, 2024

© राजी सेठ

प्रथम संस्करण: 1983

उनको

जिनके रास्तों की यह सारी बात है।

उपन्यास के बारे में

वह भी तो वहीं खड़ी थी, उसी पड़ाव पर-

अतीत अभाव में

वर्तमान रिक्तभाव में

भविष्य अनिश्चित

उसकी भी वैसी ही थी यात्रा

उसके समान- तत-सम...

अपने पात्रों की नियति को तत्-समता के इस अभिशाप से उबारकर लाता यह उपन्यास जिजीविषा के मर्म- भेदन का आलोकपर्व है। यहाँ दुख दुख नहीं, दृष्टि है- कुछ ऐसी प्राणवत्ता का उपार्जन, जो गिर जाने पर कपड़े झाड़कर खड़े हो जाने का संकल्प और आत्मबल भी देता है'- फिर भी यह कोई प्रेमकथा नहीं है, न स्त्री-विमर्श की दिशा में चिंतन के हाथ बढ़ाने की कोई आवेगित कोशिश। यहाँ नियतिबद्ध मनुष्यों को अपने चैतन्य की तलाश है जहां अपने को अपनी समग्रता में पाने के लिए उनकी आंतरिकता भरपूर कदम उठाना चाहे, क्योंकि यहाँ शत्रु समाज या स्थिति नहीं, अपनी जड़ता है। जिजीविषा के उत्सव का यह दस्तावेज सदा

समाज या स्थिति नहीं, अपनी जड़ता है। जिजीविषा के उत्सव का यह दस्तावेज़ सदा अर्थजीवी रहेगा, इसमें संदेह नहीं।

यह उपन्यास और भी कई अर्थों में अपूर्व है। इसकी संरचना घटनाओं से नहीं, मनःस्थिति से हुई है- कथा विन्यास को कपड़े की तरह खोलते हुए। भाषा यहाँ अभिव्यक्ति का उपकरण नहीं, शुद्ध संवेदन है- स्थिति की अनुकूलता में पूरी तरह विगलित, स्पंदित। पाठ की सघन बुनावट हर बार नए से नया अर्थ देने में सक्षम। शैली- शिल्प की ऐसी प्रस्तुति और ऐसी जीवन- दृष्टि उस दशक के उपन्यासों में विरल रही है।

दीखी, मुझे

सागर के रेतीले सिरहाने पर

खड़े पैरों की आवेग-भीत कातरता

दीखा-

बालू की बेईमान अस्थिरता में

पंजे अड़ाकर

लहरों के विजयदर्प की झुठला पाने का

आदीप्त हठ, भी तो।

वह

अपना ही चैतन्य था

जिसने चौंकाया!

भीड़ इतनी है परिचय एक भी नहीं।

समारोह का उद्घाटन दोपहर के खाने के बाद तीन बजे होगा। सुबह एकदम खाली-लटकी हुई। अकेलापन फट गये पल्लू की तरह पीछे लिथड़ता हुआ।

डॉ.. ललितचन्द्र अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ खाली सुबह भुनाने डिफेंस कॉलोनी चले गये हैं। लड़कियाँ मग्न हैं अपने में। रिहर्सल के दौरान इतनी पारस्परिक आत्मीयता अर्जित ज़रूर हो गयी है कि अपरिचय के मरु में वह उस टोली में निःषंक बैठ सके, पर वे सब उखड़ी रहती हैं उसके बीच में बैठै होने से। परदा चाहे झीना है पर स्वच्छन्दता उस भाव-मैडम के बीच में बैठे होने पर-मिलती भी हो तो अखरती तो ज़रूर है।

समझते हुए नासमझी का प्रदर्शन और भी फूहड़ लगता है।

हर किसी की आँख में खोज है जैसे कुछ भी खोया हुआ इस मेले में मिल जाने को है। नये परिचयों की टटोल। यहाँ-वहाँ बिखरे हुए झुंड। उठते और डूबते ठहाके।

अच्छा ही हुआ उसे बत्रा मिल गया-किशोर बत्रा। अपना सहपाठी। तोंदल हो गया है। पूरी तरह गृहस्थ। पहिचानने में ज़रा-सी देर तो लगती यदि कान के नीचे वह बड़ा काला निशान देखने में न आ जाता।

"अरे... मिस आनन्द। क्या कहकर बुलाऊँ तुम्हें? अब क्यों रही होगी आनन्द। तुमने कार्ड तो भेजा नहीं था। कहाँ हो आजकल?" ऐसी अकृत्रिम उत्फुल्लता जाने कितने दिनों बाद देखी है।

"लखनऊ में।"

"किस कॉलेज में।"

"नहीं। युनिवर्सिटी में।"

"ठाठ हैं। कब से हो वहाँ"

"चार साल होने आये।"

"तुमने तो शायद रजिस्ट्रेशन कराया था न रिसर्च के लिए... नहीं?"

''हाँ ऽऽ...! तब?''जैसे वह किसी दूसरे के जीवनखंड का कोई टुकड़ा हो और काटकर सामने रख दिया गया हो। ''तब इरादा किया था फिर छोड़ दिया।''

"क्यों? शादी हो गयी? टिपिकल। सत्तर फीसदी औरतों का यही कहना होता है। जैसे जिन्दगी का असली काम पूरा..."

"अब रिसर्च कर रही हूँ, पूरी होने आयी।"

"अच्छा! क्यों? घर-गृहस्थी से जी ऊब गया?" वह खुलकर हँसने लगा।

''ने हीं!''

''और सुनाओं!''

''बस! ठीक है सब...!''

''ओऽऽ हों! तुम्हारी वही 'बस'। तुम तो ज़रा भी नहीं बदलीं। एस.के. की याद है? कहा करता था तुम्हारे मुँह में चम्मच डालकर निकलवाने पड़ते हैं शब्द।''